श्री भागवत दर्शन भागवती कथा, खंड ८२

[मुरलीमनोहर श्याम]

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ८२

गीतावार्त्ता (१४)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

संशोधित मूल्य २-००६

प्रथम संस्करण १००० प्रति] चैत्र २०२७ मार्च १९७१ [मू० १.६५ पैं०

● प्रकाशक
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

● मुद्रक :
वंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

संस्मरण

[२]

वासुदेव ! जरा कष्टं कष्टं निर्धनजीवनम् ।
पुत्र शोक महाकष्टं कष्टात् कष्टतरी क्षुधा ॥

छप्पय

वृद्धनिकूँ अति कष्ट शिथिल इन्द्रिय पर जावैं ॥
तिरना अति बढ़ि जाय न परिजन सुत ढिँग आवैं ॥
निरधनता के सरिस न दुख आ जग के माहीं ।
पुत्र शोक बड़ कष्ट जगत महँ उपमा नाहीं ॥
परि सब कष्टनि तैं बड़ो, भूख कष्ट अति ई प्रबल ।
भूख सहन नहिँ करि सकै, होवै भल नर अति सबल ॥

वृद्धावस्था कष्टो का आलय है। इसलिये कि संसार की कोई भी वस्तु सदा एक-सी नही रहती। परिवर्तनशील का ही नाम संसार है। लोहा सबसे अधिक सुदृढ़ टिकाऊ माना जाता है, किन्तु सौ दो सौ वर्ष मे लोहा भी पुराना पड़ कर घुनी लकडी के सहित सड़ जाता है। पुराने लोहे को हाथ से मसलो तो चुर्र-

---

ॐ गान्धारी भगवान् से कह रही है—"हे वासुदेव ! वृद्धावस्था बड़ी कष्ट दायक है, उससे भी बढ़कर कष्ट निर्धनता म है, पुत्र शोकरूप कष्ट तो सबसे बडा महाकष्ट है और भूख से बढ़कर संसार में कोई दूसरा कष्ट है ही नही।

मुर्रे होकर चूरा बन जाता है। जब लोहा जैसी प्रबल धातु पुरानी होकर गल जाती है, तो अन्न से पुष्ट हुई ये हड्डियाँ पुरानी होने पर क्या गलेगीं नहीं। वृद्ध लोगो की हड्डियाँ तनिक ठेस लगने पर टूट जाती हैं क्योंकि वे पुरानी पडकर निर्जीव सी बन जाती है, बहुत से बूढों की हड्डियाँ तो खाट पर पड़े-पड़े ही गल जाती है। इन्द्रियाँ पुरानी होने से काम नहीं देतीं। आँखो से दिखायी नहीं देता, कान जवाब दे देते हैं, दाँत साथ छोड़ देते हैं। बाल अपना रंग ही बदल देते हैं। बहुतों के सिर से ही उड़ जाते हैं। धातुएँ अपना काम करना कम कर देती हैं। जठराग्नि मंद पड़ जाती है, समस्त शरीर मे वलय-झुर्रियाँ-पड़ जाती है, सिर हिलने लगता है। बच्चे पूछने आते हैं—"बाबा रोटी लावें।" बाबा को कान से सुनाई नहीं देता। सिर अपने आप हिलता रहता है। बच्चे समझते हैं, बाबा भोजन लाने को मना कर रहे हैं। वे घर में दौड़ जाते हैं, कहते हैं - "अम्मा ! अम्मा !! बाबा तो भोजन को मना कर रहे हैं। लो जी, आज का भोजन हो गया। बूढों से घर वाले घृणा करने लगते हैं। कोई पास आना नहीं चाहता। उनके मल-मूत्र से, खकार, गंदगी और दुर्गन्ध से सभी डरते हैं। इन्द्रियों के समस्त व्यापार कम हो जाते हैं, किन्तु तृष्णा वृद्धावस्था मे और बढ़ जाती है। भोगने की इन्द्रियों मे शक्ति न रहने पर भी भोग वासना प्रबल हो जाती है। भूख न लगने पर भी नाना वस्तुओं पर मन चलता है, युवावस्था मे भोगे हुए भोगो का स्मरण करके हृदय मे एक प्रकार की हूक सी उठती है। उस समय की हुई रँगरेलियों को स्मरण करके चित्त उनकी पुनरावृत्ति चाहता है, किन्तु बूढे के पास आवे कौन, सभी तो उसे देखकर मुख पिचकाते हैं। यही सब देखकर वृद्धावस्थापन्न महाकवि केशवदेव ने कहा है—

केशव केशनि अस करी, जस अरि हू न कराय।
चन्द्र बदन मृगलोचिनी, बाबा कहि कहि जाय॥

सा, ससार मे समस्त सामग्रियो के रहते हुए भी–समस्त साधनो के उपलब्ध होने पर भी–वृद्धावस्था का कष्ट अत्यन्त ही दुखदायी हे।

वृद्धावस्था से भी वढकर दुखदायी हे, निर्धनता का कष्ट। वृद्धावस्था मे तो यह है, कि धन हुआ प्रभुत्व हुआ तो सैकडों सेवक सेविकायें सेवा में सदा समुपस्थित रही आती हें। किसी भी अग मे तनिक सी आतुरता आते ही अनेकों अद्भुत अनुपम ओषधियाँ उपलब्ध हो जाती हैं, किन्तु निर्धनता तो तिल तिल करके हृदय को काटती रहती हे, प्रतिक्षण प्रतिपल प्रत्येक वस्तु का अभाव खटक कर हृदय में सुइयो को चुभोता रहता हे। जो लोग धनिक परिवारों मे उत्पन्न होते हैं, बिना माँगे समस्त भोग सामग्रियाँ विपुल मात्रा मे समुपस्थित रहती हैं, वे दरिद्रता के दु ख का अनुमान भी नहीं कर सकते। कार्तिकी पूर्णिमा हे गगा स्नान की इच्छा होती है, गगाजी घर से ३० कोश हैं, आने-जाने मे दो तीन दिन लगेंगे। पेदल जा आ सकते हैं, चना चबैना से पेट की ज्वाला को भी किसी प्रकार पानी पी पीकर शात कर सकते हैं, किन्तु फिर भी हाथ खर्च को, ब्राह्मण को दान दक्षिणा देने को कम से कम चार आने के पेसे तो चाहिये ही। चार आने उधार माँगने बीसों जगह जाते हें। सब ओर से टका सा जवाब मिलता हे। "अभी तुम पर पहिले ही पैसे बाकी है हम नहीं दे सकते।" उस समय हृदय मे कितनी पीडा होती हे मन मसोसकर बेठना पडता हे। हाय! चार आने पेसे के अभाव में गगाजी छूट गयीं। वर्ष भर का त्यौहार हे। गगा मेया!

तुमने मुझे इतना निर्धन क्यों बनाया ? कौन-से जन्म के मेरे पाप हैं, उस वेदना को सदा वाहन पर चढने वाले अनुभव कर ही नहीं सक्ते हैं।

घर मे बच्चे भूख के कारण बिलबिला रहे हैं। दो दिन से घर में अन्न का एक दाना भी नहीं। अबोध बच्चे क्या जानें, वे माता से रोटी मॉग रहे हैं, रो रहे हैं सिर पटक रहे हैं, मॉ उन्हें छाती से चिपटाती हे, स्तन पान कराती है। किन्तु सूखे स्तनो मे दूध का नाम नहीं। कई दिनो स अन्न का एक कोर मुख में नही गया। कभी जो थोडा बहुत कहीं से कुछ मिल जाता है, उसे बनाकर भूखे बचो में थोडा थोडा वितरित कर देती हे, मॉ भूखी रह जाती हे उपवास कर जाती हे, फिर स्तनो मे दूध कहॉ से हो, अनजान अबोध बच्चे दॉत से स्तन को काट लेते हैं। उस वेदना का समर्थ घर की महिलायें अनुमान भी नहीं कर सकती।

धनवान् होकर जो निर्धन हो जाता है, उसे जन्मजात निर्धन से सहस्रो गुणा कष्ट होता हे। धनी होने पर जो लोग सदा उसकी लल्लो चप्पो करते रहते हैं, अब निर्धन हो जाने पर उससे बात भी नहीं करते, पास मे बेठे रहने पर भी पहिचानते नहीं इससे उसे जितना कष्ट होता है, उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। दरिद्री निर्धन के लिये तो एक ही उपाय हे, वह तपस्या मे लीन हो जाय। किन्तु निर्धन को तपस्या की बात सूझती ही नहीं। वह तो निर्धनता के दु:ख से सदा इतना सतप्त बना रहता है, कि उसके मनमें शुभ सकल्प उठते ही नहीं।

ससार मे तीन ऐषणायें–इच्छायें–बडी प्रवल होती हैं, वित्तेषणा, पुत्रेषणा और लोकेषणा। सभी चाहते हैं हमें धन मिले।

स्त्री पुरुष सभी की इच्छा रहती है हमारे पुत्र हों, सभी चाहते हैं मरने के अनन्तर हमें पुण्य लोकों की प्राप्ति हो।

इन तीनों एषणाओं में से पुत्रेषणा सबसे प्रबल एषणा है। राक्षसियों-व्यभिचारिणियों-कुलटाओं को छोड़कर प्रत्येक महिला पुत्रवती होना चाहती है, प्रत्येक पुरुष की बाप बनने की आंतरिक अभिलाषा होती है। पुत्र कोई अन्य नहीं, पुत्र अपनी आत्मा ही है। पुरुष स्वय ही पत्नी के पेट में नो महीने रहकर स्वय ही पुत्र रूप में उत्पन्न होता है। इसीलिये पुत्रवती पत्नी का नाम जाया है—"स्वय जायते उत्पद्यते यस्मिन् सा जाया।" जिसके उदर से पुरुष स्वय ही उत्पन्न हो उसे जाया कहते हैं। मनुष्य का स्वभाव है, यह जवधर्म है कि मनुष्य अपने को सर्वश्रेष्ठ देखना चाहता है, किसी के सम्मुख पराजित होना नहीं चाहता। उसे किसी के सम्मुख पराजित होने पर महान कष्ट होता है। किसी परीक्षा में बैठे हैं, चाहें हम पर कुछ भी नहीं आता, किन्तु फिर भी आन्तरिक अभिलाषा तो यही रहती है मैं सबसे श्रेष्ठ श्रेणी में उत्तीर्ण होऊँ। यद्यपि पुरुष सर्वत्र अपनी विजय चाहता है किन्तु पुत्र के सम्मुख पराजित होने पर भी उसे प्रसन्नता ही होती है। पुरुष की आन्तरिक अभिलाषा रहती है मेरा पुत्र मुझसे भी बढ़कर धनी, मानी, पंडित तथा विद्वान हो।" वह इसलिये चाहता है कि पुत्र तो अपनी आत्मा ही है "वह मेरा अपना ही नवीन संस्करण है।"

पुत्र के प्रति माता पिता की कितनी भारी ममता होती है, इसे बिना पिता बने कोई अनुमान कर ही नहीं सकता। पुत्र कितना ही अयोग्य अन्यायी दुराचारी पापाचारी हो फिर भी पिता का उसके प्रति आन्तरिक स्नेह बना ही रहता है। वह चाहे माता पिता की कुछ भी सेवा न करे, उन्हें सदा कष्ट ही

पहुँचाता रहे, फिर भी माता-पिता हृदय से उसके कल्याण की ही कामना करते रहते हैं। पुत्र के प्रति माता पिता का सहज स्वाभाविक स्नेह रहता ही है। ऐसे पुत्र की माता-पिता के सम्मुख स्वल्पावस्था मे मृत्यु हो जाय तो माता-पिता को उसकी मृत्यु पर कितना महान कष्ट होता है, यह वर्णनातीत विषय है, शब्दो द्वारा उसका वर्णन करना असंभव है।

परन्तु इन समस्त कष्टों के अतिरिक्त एक महान् कष्ट है, जिसकी बराबरी का कष्ट ससार मे कोई हो ही नहीं सकता, वह कष्ट है क्षुधा का कष्ट, भूख की वेदना। भूखा पुरुष सब कुछ करने को उद्यत हो जाता है। (बुभुक्षितः किं न करोति-पापम्) बुभुक्षित व्यक्ति के सम्मुख ऐसा कोई भी पाप नहीं है, जिसे वह भूख शान्ति के निमित्त न कर सकता हो। इस विषय में महारानी गान्धारी की एक कथा कही जाती है।

महारानी गाधारी के दुर्योधनादि सभी सौ के सौऊ पुत्र मारे गये। माता गाधारी पुत्रों के मृतक शरीरो को देखने समराङ्गण में गयी। वहाँ सेवको ने खोज-खोजकर पुत्रों के शव एक स्थान पर एकत्रित कर दिये। माता को भगवान् श्रीकृष्ण के ऊपर अत्यन्त ही क्रोध था, कि श्रीकृष्ण ने ही मेरे पुत्रों को मरवा दिया है, व चाहते तो सन्धि हो जाती, मेरे पुत्र न मारे जाते। अतः उन्होंने श्रीकृष्ण जी को शाप दिया, "कि जेसे तुमने मेरे वंश का सर्वनाश करा दिया है वेसे ही तुम्हारे कुल का भी परस्पर के युद्ध मे सर्वनाश हो जाय। मुझे सबसे अधिक कष्ट अपने सौऊ पुत्रों के मरने का है।"

भगवान् ने अपनी माया फैलायी। माता गांधारी को समर-भूमि में ही बडे जोरों की भूख लगी। वे भूख से इतनी व्याकुल हो गयीं कि उनसे क्षण भर भी नहीं रहा गया। अपनी आखों

की पट्टी को तनिक खिसका कर उन्होंने चारो ओर देखा, जहाँ वे पुत्रो के मृतक शरीरा के बाच मे बैठा थीं, वहाँ एक वेरिया का वडा वृक्ष था। उस पर पके पके वेर फले हुए थे। माता ने चारो ओर देखा, कोई आदमी नहीं है। उन्होंने सोचा—'कोई मुझे देख तो रहा नहीं है, ये लडके तो मर ही गये, अब ये जीवित तो हो नहीं सकते। तब तक मे इस वेरिया से वेर तोड़कर अपनी भूख को शात क्यो न कर लूँ।" यह सोचकर वे वेर तोडने को खडा हो गयी, उन्होने ऊपर हाथ वढाकर ज्यो ही वेर तोडने चाहे तो एक विलस्व वेर दूर प्रतीत हुए।

वे वेर थाडे ही थे अगहन पौप मे पके वेर कहाँ से आवें वह तो भगवान् की माया थी, अब माता सोचने लगी—"ये लडके तो मर ही गये लाओ इनके ऊपर चढकर फल तोड लूँ।" यह सोचकर वह दुर्योधन के शव के ऊपर चढ गयी। फिर भी हाथ नहीं पहुँचा। तब माता ने उसके ऊपर उठाकर दूसरा शव रखा, ज्यो-ज्यों वह एक के ऊपर एक शव रखकर वेर तोडना चाहती थी, वेर और ऊपर होते जाते थे। कई शवों के ऊपर चढकर ज्यों ही उसने बेर तोडने का उपक्रम किया, त्यो ही न जाने कहाँ से भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी वहाँ आ पहुँचे और हँसते हुए बोले— 'बूआ जी! क्या कर रहीं हैं, लाओ में तुम्हारे कार्य में कुछ सहायता करूँ।"

तब अत्यन्त ही लज्जित होकर महारानी गान्धारी ने कहा —

वासुदेव जरा कष्ट कष्ट निर्धन जीवनम्।
पुत्रशोक महाकष्ट कष्टात् कष्टतरा क्षुधा॥

सो, पाठक पाठिकाओ! भूख का कष्ट व। ही प्रवल होता

है, जिसे अनुभव होगा, वह तो समझ ही लेगा, जिन्हें अनुभव न हो, उन्हें मैं अगले खण्ड मे अपनी अनुभूति की कहानियाँ सुनाऊँगा। स्थानाभाव से इस खड मे आज इतना ही।

छप्पय

भूख भवानी बड़ी सयानी जुक्ति बतावै।
भूख मिगावन हेतु अकारज काज करावै॥
भूख सहन नहिं होइ और सब सहि लै प्रानी।
भूख बिना तनु शिथिल न निकसत मुख तैं बानी॥
भूख बडी है बावरी, पाप पुन्य कछु गनै नहि।
भूख, प्यास, निद्रा, विपति, पाइँ परमपद इनहि सहि॥

संस्मरण

[३]

अन्नं ब्रह्म रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः ।
एवं ज्ञात्वा द्विजैर्भुङ्क्ते अन्न दोषो न विद्यते ॥*

छप्पय

ब्रह्मरूप है अन्न अन्न तैं बीरज होवै।
बीरज तैं उत्पन्न जीव जग उपजे रोवै॥
अन्न उदर में जाइ प्रथम सो रस बनि जावै।
पालै पोसै अंग रक्त बान मेद बढ़ावै॥
जीव जीव तैं जीवते, जीव जीव भच्छन करै।
भोक्ता बनिकैं जीव शिव, प्रलय करैं जीवनि हरैं॥

जो भी खाया जाय वही अन्न है (अत्तीति अन्नम्) परन्तु अन्न करके नित्य खाये जाने वाले धान्य (गेहूँ, जौ, चावल, मूँग उड़दादि) ही लिये जाते हैं। वास्तव मे अन्न शब्द का अर्थ तो धान मे से निकाला हुआ चावल (स्विन्न तण्डुल) ही है। हमारे इस उत्तर प्रदेश मे जहाँ गेहूँ, जौ चना मटरादि विशेष खाये जाते हैं वहाँ तो सभी खाये जाने वाले धान्यों को अन्न कहते हैं, किन्तु

---

* अन्न ही ब्रह्म है, रस ही विष्णु है, अन्न को भोगने वाला ही शिव है। इस रहस्य को जानकर जो अन्न को खाता है, उसे अन्न खाने का दोष नही लगता।

जिन देशो मे केवल चावल ही खाये जाते हैं, जैसे हिमालय के पर्वती देश, बगाल, आन्ध्र, तामिल, कर्णाटकादि देशो मे केवल चावल को ही अन्न मानते हैं, वहाँ एकादशी व्रत मे भात को छोडकर गेहूँ आदि के सभी पदार्थ फलाहार मान कर खाये जाते हैं।

सर्व प्रथम मैं आन्ध्र प्रदेश में गया। गुन्टूर जिले के नाडी-गड्डापालम् मे हमारे स्वर्गीय दासशेषजी ने एक 'गुरुपादुका क्षेत्रम्' स्थान बना रखा था। आन्ध्र प्रदेश मे सर्वप्रथम वहीं अखड कीर्तन आरम्भ हुआ था। उसी मे उन्होने मुझे आमन्त्रित किया था। आन्ध्र प्रदेशीय बन्धु अत्यन्त ही भावुक सरल सीधे और श्रद्धावान् होते हैं। उन्होने कितनी श्रद्धा भक्ति आदर सत्कार से प्रेमपूर्वक मेरा स्वागत सत्कार किया उसके लिये मै उनका सदा आभारी रहूँगा। वहा मातायें अत्यन्त ही भावुक होती हैं। उन माताओ ने जब सुना कि मैं सदा फलाहार ही करता हूँ तो उन्होने पचासो प्रकार के अपनी दृष्टि से फलाहारी पदार्थ बनाये। गेहूँ के आटे की पूडी, हलुआ, चना के बेसन के लड्डू पकोडी आदि आदि। हम लोग उत्तर प्रदेशीय कूट्टू और सिंघाडे के आटे को ही फलाहारी मानते हैं। मेने समझा ये सब पदार्थ कूट्टू या सिंघाडे के आटे के होंगे। जब लड्डू को मुख मे दिया तो पता चला यह तो बेसन का है? मैंने पूछा—"यह लड्डू किससे बना है?"

तब दासशेष जी ने कहा—"फलाहारम्, चणकान्नम्"।

"मैं हँस पडा धत्तेरे की बडा बढिया यहाँ का फलाहार है, तब तो हमारे देश के लोग सदा फलाहारी ही रहते हैं।" बात यह है, कि वहाँ अन्न केवल चावल को ही मानते है सो भी चावल के बने भात ही को। चावल को पीसकर उसकी पूडी आदि

बना लो तो वह भी फलाहारी हो जायगी। मुझे बहुत से भक्त अपने घर पर भी प्रसाद पाने को आमन्त्रित करते। हमारे साथी उन्हें भली प्रकार समझा देते। गेहूँ, जौ चने की कोई वस्तु मत बनाना। उन्हें कूट्टू का आटा दे देते बता देते "नल का पानी न डालना केवल फल, साग और कूट्टू की पूड़ी बनाना।" तो वे पूड़ी तो कूट्टू की बना लेते, किन्तु साग में उड़द की दाल अवश्य मिला देते। हमारे आदमी बहुत मना करते, उड़द की दाल मत डालना। किन्तु वे मानते ही नहीं थे, वे उड़द की दाल को जीरे धनिये की तरह मसाला ही मानते और थोड़ी बहुत दाल उसमें अवश्य मिला देते। अपने अपने देश का सदाचार है।

हाँ तो अन्न उसे कहते हैं, जिसके द्वारा प्राणों का तर्पण हो बुभुक्षा शान्त हो। खेत में खड़े हुए धान को शस्य कहते हैं खेत से लाये किन्तु उस पर तुषा-भूसी लगी रही तो कटने पर उसका नाम धान्य हो जाता है। तुषा को कूटकर पृथक् कर दिया, केवल भूसी रहित चावल हो गये उसे स्विन्न अन्न अर्थात् सूखा अन्न कहते हैं। उसे पतीली आदि में अग्नि पर पका लिया तो उसे भुक्त या भात तथा ओदन कहते हैं। जब प्राण चलते चलते श्रमित हो जाते हैं, तब उन्हें आहार की आवश्यकता अनुभव होती है, उसी आवश्यकता का नाम बुभुक्षा या भूख है। भोजन की इच्छा का ही नाम बुभुक्षा है। हम जो श्वास प्रश्वास लेते हैं इससे वात कुपित होती है नेत्रों के सम्मुख अन्धकार छा जाता है। तभी क्षुधा लगती है। क्षुधा लगने पर कुछ भी अच्छा नहीं लगता। ज्यों-ज्यों क्षुधा तीव्र होती जाती है त्यों-त्यों दुःख बढ़ता जाता है। क्षुधा से बढ़कर कष्टदायी कोई वस्तु नहीं। समस्त कार्य एक मुट्ठी अन्न जब पेट में पड़ जाय तभी अच्छे लगते हैं। भूख में भजन भी भाता नहीं है, कहावत है—

भूखे भजन न होइ गुपाला। यह लै अपनी कंठी माला॥

सम्पन्न पुरुषों को भूख के दुःख का अनुभव नहीं होता। क्योंकि वे भूख लगने के पहिले ही नाना पदार्थों को पेट में ठूँसते रहते हैं। वे खुलकर पूरी भूख लगने ही नहीं देते। भूख लगे न लगे। प्रातः ये जलपान कर ही लेते हैं। मध्याह्न में भाँति-भाँति के पदार्थ कंठ तक भरकर खा लेंगे। तीसरे समय पुनः जलपान, बीच बीच में भी खाते पीते रहेंगे। रात्रि में भर पेट ब्यालू और सोते समय गाढ़ा-गाढ़ा दूध ऊपर से। ऐसे लोग भूख का स्वाद क्या जानें। भूख का स्वाद तो अनिकेतन, असंग्रही, यदृच्छा लाभ सन्तुष्ट भिक्षुक ही जानता है।

गंगा किनारे उन दिनों बड़े बड़े विरक्त महात्मा विचरते रहते थे। गंगा किनारे के गाँवों में रहने वाले उन्हें बड़ी श्रद्धा से भिक्षा देते थे। गंगा किनारा विरक्त साधु महात्माओं का राजपथ था। बहुत से साधु संत गंगा किनारे इसी आशा से कुटिया बनाकर रहते थे, कि हमें आते-जाते महात्माओं के आतिथ्य का देव दुर्लभ अवसर प्राप्त होगा, बहुत से धनिक गंगा किनारे अन्न क्षेत्र लगा देते थे। गंगा किनारे घूमने वाले माहात्मा भूखे नहीं रहते थे। अब तो गंगा किनारे पैदल महात्मा जाते ही नहीं। गंगा किनारे के एक ग्राम का ग्रामीण कह रहा था, गंगाजी की धारा कम हो गयी उसका हमें उतना दुःख नहीं। दुःख तो इस बात का है कि साधुसन्तों की धारा जो गंगा किनारे बहती थी वह बन्द हो गयी। बहुत से विरक्त तो ऐसे होते थे, कि वह भूख लगने पर सद्गृहस्थों के द्वार पर जाकर भिक्षा माँग लाते थे। कुछ ऐसे भी होते थे, जो याचना नहीं करते थे। अयाचित भाव से किसी ने स्वयं खिला दिया तो खा लिया नहीं तो भूखे ही रह जाते थे। अन्न

के यथार्थ स्वाद को तो वे अयाचक ही जानते थे। क्योंकि स्वाद पदार्थों में नहीं है। स्वाद तो भूख में है, जितनी ही खुलकर तीव्र भूख लगेगी, उतना ही अन्न मे स्वाद आवेगा।

एक महात्मा अनगबोधाश्रमजी थे, उनके गुरु स्वामी कृष्ण बोधाश्रमजी थे। १०० वर्ष की अवस्था में भी वे हृष्ट-पुष्ट थे। अपने जीवन मे मैंने स्वामी अनंगबोधाश्रम के समान दूसरा कोई तितिक्षु नहीं देखा। ज्येष्ठ बैशाख की धूप में गगाजी की बालू इतनी गर्म हो जाती है कि उसमें चना डालो तो भुन जाय। ऐसी दोपहर भी वे दिन के १० बजे से ४ बजे तक गरम बालू में बैठे रहते थे। भैंसे के चर्म की भाँति उनके शरीर की खाल हो गयी थी। मेरे ऊपर उनकी बड़ी कृपा थी, कुछ दिन जब मुझे भी त्याग का भूत सवार हुआ तो मैं उनके साथ-साथ नगा घूमा था। वे किसी से भिक्षा की याचना नहीं करते थे। किसी ने दे दिया तो खा लिया नहीं २-२, ३-३ दिन भूखे ही रहे आते।

(शेष अगले खण्ड में)

पाठकों की जानकारी के लिये यह बताना आवश्यक है कि कथावार्ता पहिले छप जाती है। संस्मरणादि की एक फरमा छोड़ देते हैं। जब खंड छपकर तैयार हो जाता है, तो अन्त मे संस्करण वाला अंश छपता है। इसी से कभी-कभी कथा अधूरी रह जाती है। इसीलिये ये संस्मरण अधूरे रह गये। विवशता के लिये पाठक क्षमा करें।

—लेखक

गीता माहात्म्य

[१८]

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥
(श्री भाग० ११ स्क० १४ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

कैसे हू यह चित्त ओर प्रभु की लगि जावै ।
जप, तप, पूजा, पाठ, ध्यान संयम रमि जावै ॥
फिर हू भाग्य अधीन विषय मन तैं न भुलावैं ।
दिव्य भोग भगवाइ ताहि प्रभु पार लगावैं ॥
गीता को अध्याय वर, दिव्य अठारहवों कह्यो ।
भक्त सतत तिहि पाठ करि, स्वरग ओर प्रभु पद लह्यो ॥

यह जीव न जानें कब से कितनी योनियो मे भटक रहा है किन किन जन्मो के कितने कितने संस्कार इसके सचित कोष में एकत्रित है । किस जन्म मे कौन सा सस्कार जागृत हो जाय, इसे दैव के अतिरिक्त कोई जानता नही । जीवन्मुक्त हो जाने पर भी

---

* श्री भगवान् उद्धव जी से कह रहे हैं—' उद्धव ! मेरा कोई भक्त है अभी उसने इंद्रियो को जीता नही, ससार के विषय उसे बार-बार बाधा पहुँचाते हैं, ऐसा वह भी मेरी प्रगल्भ भक्ति के द्वारा विषयो से पराजित नही होता ।"

प्रारब्ध कर्म भोगने ही पडते हैं। न जाने किस जन्म के पुण्य के उदय हो जाने पर घोर से घोर पापी की भी बुद्धि सहसा सद्गुणों मे लग जाती है और कभी-कभी महान् से महान् पुण्यात्मा की भी प्रवृत्ति पाप कर्मों मे देखी गयी है। इतना सब होने पर भी कल्याणकृत्य पुरुष की कभी दुर्गति नही होती। मन को जप, तप, पूजा, पाठ, नियम सयम, भजन कीर्तन में लगाये रखे, तो कभी न कभी समस्त सस्कारो का नाश होकर भगवान् के समीप पहुँच ही जावेंगे। अत: सदा सर्वदा शुभ कर्मों मे-परमार्थ के साधनो मे-लगे ही रहना चाहिये। भगवान् की शरण लेने पर शनै शनै: सभी सस्कार समाप्त हो जाते हैं।

महाराज वलि धर्मात्मा कैसे हुए। वे पूर्वजन्म मे एक बडे भारी जुआरी थे। एक दिन जूए मे बहुत-सा द्रव्य जीता। उनका एक वेश्या मे अत्यन्त ही अनुराग था। द्रव्य आ जाने पर उसे प्रसन्न करने, उसके लिये फल, फूल माला, इत्र, वस्त्र, नैवेद्य आदि लेकर उसकी पूजा करने चले। जाते समय मार्ग म पैर रपटने से गिर गये, किन्तु पूजा की सामग्री नही गिरी। वह रपटना उनके लिये वरदान हो गया। दैवयोग से जहाँ रपटे थे, वहा शिवजी का मन्दिर था। उन जुआरी महोदय की बुद्धि बदल गयी। वे सोचने लगे—"एक पश्यन्ती के लिये मैं क्यों ये वस्तुएँ ले जाऊँ? इनसे शिवजी का ही पूजन क्यों न करूँ?" ऐसी सद्बुद्धि आते पर उन महाभाग ने उसी सामग्री से शिवजी का पूजन किया। मरने पर इस पुण्य के प्रभाव से वे एक प्रहर को इन्द्र हुए। उन्होंने इन्द्र होते ही स्वर्ग की बहुमूल्य वस्तुएँ ऋषियों को दान कर दीं। वे इस दान के प्रभाव से धर्मात्मा असुरेन्द्र वलि हुए।

वलि इतने ज्ञानी धर्मात्मा, परोपकारी तथा सत्यपरायण हुए, कि भगवान् ने उन्हीं के निमित्त त्रिविक्रम-वामन अवतार

धारण करके उनके द्वार पर भीख माँगी। मनस्वी धर्मात्मा राजा ने अपना सर्वस्व दान कर दिया। जिसे एक बार भी भगवान के दर्शन हो जाते हैं, उसकी सदा के लिये मुक्ति हो जाती है। महाराज बलि ने तो सपरिवार भगवान के दर्शन किये, उनके अलौकिक पावन पादपद्मों को पखारा, पाद पूजा की, उनसे सम्भाषण किया और उन्हें सर्वस्व दान करके आत्मसमर्पण भी कर दिया। इससे उनकी मुक्ति हो जानी चाहिये, किन्तु वे संसार से उसी जन्म में मुक्त नहीं हुए। इस इन्द्र का कार्यकाल समाप्त होने पर महाराज बलि पहिले इन्द्र बनेंगे, तब कहीं जाकर मुक्त होंगे।

बात यह है कि गीता में भगवान् ने कहा है—"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" कौन सा कर्तव्य कर्म है और कौन-सा न करने योग अकर्तव्य कर्म है, इस विषय में बड़े-बड़े विद्वान् भी चक्कर में फँस जाते हैं। त्याग, शम, दम, तप, दान, धर्मादि जो सद्गुण हैं, देखने में दो व्यक्ति एक-सा ही कर्म करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु उनका परिणाम भावना के अनुसार भिन्न भिन्न होता है। एक कथा है—स्वर्ग के द्वार पर प्रहरी बैठे रहते हैं, जो भी धर्मात्मा पुरुष जाता है, उसके धर्म का लेखा जोखा उन प्रहरियों का मुख्य अधिकारी सभापाल जानकर उसे भीतर प्रवेश करने की अनुमति देता है। स्वर्ग के द्वार पर एक समस्त शास्त्रों का ज्ञाता महान् लेखक पहुँचा। उसने कहा—"स्वर्ग के द्वार को खोल दो, जिससे मैं उसमें प्रवेश कर सकूँ।"

सभापाल ने पूछा—"आपने कौन कौन से पुण्य कर्म किये हैं ?"

शास्त्रज्ञ पंडित ने कहा—"जीवन भर मैंने धर्म शास्त्रों का अध्ययन किया है, एक एक शब्द पर गम्भीरता से विचार किया है, उनके अर्थों का आलोडन किया है, उन पर तर्क वितर्क किये

हैं, दूसरे शास्त्रों का खण्डन-मण्डन किया है, बडे-बडे ग्रन्थों को लिखा है ? क्या ये पुण्य कार्य नहीं है ? इन कर्मों के द्वारा क्या मैं स्वर्ग का अधिकारी नहीं हो सकता है ?"

सभापाल ने कहा —"ये कर्म तो अवश्य ही अच्छे हैं, किन्तु आपने इन कर्मों को किस भावना से कैसे किया है, इसके लिये मुझे चित्रगुप्त जी से पूछना पडेगा। क्योंकि वे ही अपने दूतों के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के गुप्त से गुप्त कार्यों के गुप्त से गुप्त भावों के निरन्तर चित्र लिवाते रहते हैं, इसीलिये वे चित्रगुप्त कहलाते हैं। यदि आपने अजितेन्द्रिय होकर केवल अपना व्यवसाय चलाने को शास्त्रों की आलोचना प्रत्यालोचना की है, तो आपको दूसरा फल मिलेगा और केवल धार्मिक भावना से प्रभु की प्रीति के निमित्त शास्त्रों का अध्ययन किया है, तो उसका दूसरा फल मिलेगा।"

सभापाल और शास्त्रज्ञ में ये बातें हो ही रही थीं, कि उसी समय एक पुरोहित जी भी आ गये। उन्होंने सभापाल से कहा—"क्या मुझे भीतर जाने की अनुमति मिलेगी ?"

सभापाल ने पूछा—"आपने कौन-से पुण्य कर्म किये हैं ?"

पुरोहित ने कहा—"जीवन भर मैंने पूजा पाठ किया है, लोगों से यज्ञयाग धर्मानुष्ठान कराता रहा हूँ। देवताओं की पूजा कराते-कराते मेरी आयु व्यतीत हुई है। पवित्र श्लोकों का, परम-पावन वेद मन्त्रों का उच्चारण करते-करते ही मैंने सम्पूर्ण समय बिताया है, क्या स्वर्ग में प्रवेश करने के निमित्त ये पुण्य कार्य पर्याप्त नहीं है ?"

सभापाल ने कहा —"इस विषय में भी मुझे चित्रगुप्तजी से पूछना पडेगा। यदि आपने अपनी आजीविका चलाने के निमित्त अजितेन्द्रिय होकर इन शुभ कर्मों को कराया है, तो आपको

दूसरा स्थान मिलेगा और यदि आपने जितेन्द्रिय होकर निस्वार्थ भाव से इन कर्मों का आचरण अनुष्ठान किया है, तो अन्य स्थान मिलेगा।"

इसी समय एक दीन हीन साधारण-सा कृषक आकर खड़ा हुआ। उसने नम्रता से कहा—"क्या स्वर्ग का द्वार मेरे लिये खुल सकता है ?"

सभापाल ने पूछा—"आपने कोई पुण्य कर्म किया है ?"

उसने कहा—"मैं दीन हीन पुण्य कर्म भला क्या कर सकता हूँ, मेरे पास इतना द्रव्य ही नहीं था, कि दान पुण्य कर सकूँ, मठ मन्दिर बनवा सकूँ, दीन दुखियो का दुख दूर करूँ मैंने तो केवल जैसे-तैसे कष्टपूर्वक अपना पेट ही भरा है, हाँ मैंने किसी को यथाशक्ति कष्ट नहीं पहुँचाया, अधर्म से द्रव्य पैदा नहीं किया है, मेरे द्वार पर जो अतिथि आ जाता था उसे मैं स्वयं भूखा रहकर भोजन दे देता था, सोने को स्थान दे देता था। इसके अतिरिक्त मुझसे कोई पुण्य कार्य नहीं बना।"

सभापाल ने कहा—"पधारिये-पधारिये इस विषय मे मुझे चित्रगुप्त से सम्मति लेने की आवश्यकता नही। आप बड़ी प्रसन्नता से स्वर्ग मे प्रवेश कर सकते हैं।"

इस कथा का सार इतना ही है, कि पुण्यकर्मों का फल भी भावना के ही अनुसार मिलता है, यदुवंश मे एक सहस्रजित् नाम के बड़े दानी राजा हुए हैं। उनके पुत्र शतजित् हुए। महाराज सहस्रजित् जब स्वर्ग सिधार गये, तो उनके पुत्र शतजित् राज्य के अधिकारी हुए। लोगो ने उनसे निवेदन किया—"राजन्! आपके पिता महान् दानी थे, उन्होंने बड़े भारी-भारी दान किये। आप भी उन्ही की भाँति दान देकर विपुल कीर्ति कमाइये।"

राजा ने कहा—"देखो, भाइयो ! मेरे पिता अवश्य दानी थे, उन्होंने बड़े-बड़े दान किये, इस बात को मैं जानता हूँ। किन्तु उनके दान का परिणाम क्या हुआ इसे जाने बिना मैं दान नहीं करूँगा। पहिले मुझे इस बात का पता लगाना है, कि उन दानों से मेरे पिता की क्या गति हुई।"

बहुत से ऋषि ऐसे होते हैं, जो अपनी तपस्या के प्रभाव से इसी शरीर से स्वर्ग जा सकते हैं और फिर ज्यों के त्यों सशरीर लौट आ सकते हैं। ऐसे ही एक ऋषि को शतजित् ने अपने पिता की गति जानने को स्वर्ग भेजा।

ऋषि स्वर्ग गये और लौटकर उन्होंने आकर कहा—"राजन्! आपके पिता को एक घड़े में बन्द करके उन्हें बड़ी-बड़ी यातनायें दी जा रही हैं?"

राजा ने पूछा—"भगवन्! इतने भारी दान करने वाले लोक विश्रुत मेरे पिता को ऐसी भारी-भारी यातनायें किस अपराध पर दी जा रही हैं?"

ऋषि ने कहा—"राजन्! आपके पिता ने दान तो अवश्य किये थे, किन्तु वे समस्त दान प्रजा को भाँति-भाँति की यातनायें देकर—अन्याय अधर्म से धन एकत्रित करके—उसी धन से किये थे। अन्यायोपार्जित धन से किये हुए दान का यथार्थ फल मिलता नहीं। जो न्यायोपार्जित धन से दान किया जाता है, वह चाहे स्वल्प ही दान हो, उसका महान फल होता है।"

जीवों के अनन्त जन्मों के संचित कर्म अतिरिक्त कोष में रखे रहते हैं। किस समय कौन-सा पुण्य उदय हो जाय कौन-सी भावना जागृत हो जाय इसे कोई जानता नहीं। महाराज बलि ने अपना सर्वस्व दान किया था वह भी किसी साधारण व्यक्ति को नहीं स्वयं साक्षात् त्रिविक्रम भगवान् को। भगवान् ने उन्हें दर्शन

ही नहीं दिया, उससे हाथ फैलाकर भी अन्न लिया। फिर भी उनकी अधोगति हुई सुतललोक में अब तक निवास कर रहे हैं। यद्यपि वहाँ उन्हें स्वर्ग से भी अधिक सुख है, भगवान स्वयं द्वार-पाल बनकर उनका पहरा देते हैं, फिर भी लोक तो असुरों के रहने का नीचा ही है। यही नहीं आगामी मन्वन्तर में वे इन्द्र के पद को अलकृत करेंगे। एक मन्वन्तर इन्द्रपद का सुख भोग कर वे मुक्त होंगे। क्योंकि इन्द्र बनने की उनकी पहिले की वासना थी, भगवान समस्त वासनाओं को पूर्ण करके ही परमपद प्रदान करते हैं। महाराज मुचुकुन्द को भगवान् के साक्षात् दर्शन हो गये, फिर भी उन्हें अगले जन्म में ब्राह्मण होना पडा। ध्रुवजी को भी भगवान के दर्शन हो गये थे, उन्हीं के निमित्त भगवान ने अवतार भी धारण किया। फिर भी ३६ सहस्र वर्षों तक उन्हें पृथ्वी पर राज्य करना पडा और अब तक भी वे सप्तर्षि लोकों से ऊपर ध्रुवलोक में निवास कर रहे हैं। शुद्ध भाव से प्रभु की प्रीति के निमित्त शुभ कर्मों का अनुष्ठान करते रहने से भगवान् जीव की समस्त वासनाओं का मूलोच्छेदन करके उसे परमपद का अधिकारी बना लेते हैं। यही बात गीता के अठारहवें अध्याय के माहात्म्य से सिद्ध होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! लक्ष्मीजी के पूछने पर भगवान् विष्णु ने और पार्वतीजी के पूछने पर सदाशिव भोलेनाथ ने जैसे पार्वतीजी को गीता के अठारहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाया उसी को मैं आपको सुनाता हूँ।"

पार्वतीजी ने कहा—"भगवन् मैंने आपके श्रीमुख से अब तक श्रीमद्भगवत्गीता के सत्रह अध्यायों का तो माहात्म्य श्रवण कर लिया, अब कृपा करके मुझे सबसे अन्तिम अठारहवें अध्याय का माहात्य और सुना दें।"

शिवजी ने कहा—"देवि! तुमने यह बहुत ही उत्तम प्रश्न किया। इससे मुझे अत्यन्त ही आनन्द हुआ। तुमने यह प्रश्न पूछकर मेरे ऊपर बड़ा भारी उपकार किया।"

पार्वती ने कहा—"क्यों प्रभो! इस प्रश्न मे ऐसी कौन-सी बात है?"

भगवान् सदाशिव बोले—"देवि! भगवत्गीता का अठारहवाँ अध्याय समस्त शास्त्रों का सार है। इसका माहात्म्य आनन्द की चिन्मय धारा बहाने वाला है। यह भव रोग को हरने के लिये सर्वोत्तम रसायन है। त्रिविध तापो से सन्तप्त प्राणी संसार की यातना रूप जाल में फँसे हुए हैं, उस जग जाल को छिन्न भिन्न करने वाला गीता का अठारहवाँ अध्याय और उसका महान् महत्वपूर्ण मनोहर माहात्म्य है। यह अविवेक को नाश करने वाला विवेकमयी लता का मूल है, संसार की विपत्तियों को हरने वाला त्रिशूल है, परम-पावन गीता-गंगा का कमनीय कूल है, यह प्रभु के परमपावन पादपद्मों की धूल है, जो गीता के इस अन्तिम अध्याय का प्रेमपूर्वक निरन्तर पाठ करता है, उसके लिये संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं। इसके पाठ को सुनते ही यमदूतों की गर्जना दूर हो जाती है, भव बीज भुन जाता है। ऐसे इस दिव्य अध्याय के दिव्य माहात्म्य को मैं तुम्हे सुनाता हूँ, इसे तुम दत्त-चित्त होकर श्रवण करो।"

शिवजी कह रहे हैं—"हे गिरिजेशनन्दिनि! गीता के अठारहवें अध्याय के निरन्तर पाठ करने वाले पुरुष के सम्बन्ध की एक कथा है, उसी से अठारहवें अध्याय का माहात्म्य जाना जा सकता है।"

सुमेरुगिरि के शिखर पर इन्द्र की अमरावती नाम की एक परमपावन पुरी है। उस पुरी मे पापी पुरुष प्रवेश नहीं कर

सकते। पुण्यात्मा पुरुषों के लिये ही उसके द्वार खुलते हैं। उसी पावन पुरी में समस्त देवताओं के राजा इन्द्र अपनी पत्नी सती-शची देवी के साथ निवास करते हैं। यह दिव्य पुरी पूर्व काल में विश्वकर्मा द्वारा बनायी गयी है। देवराज इन्द्र तीनों लोकों के स्वामी हैं। समस्त देवता, गंधर्व तथा ऋषि मुनि उनकी स्तुति करते हैं। जो पुरुष सौ यज्ञ करते हैं, वे ही इन्द्र पद के अधिकारी माने जाते हैं। इसीलिये इन्द्र का एक नाम शतक्रतु भी है। इन्द्र एक मन्वन्तर तक त्रैलोक्य के ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं। एक मन्वन्तर बीत जाने पर ये इन्द्र बदल जाते हैं, दूसरे इन्द्र इनके स्थान पर आ जाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है, कि किसी राजा ने सौ यज्ञ कर लिये तो वह भी इन्द्र बन जाता है, अतः इन्द्र अपने इन्द्रासन की रक्षा के लिये किसी को सौ यज्ञ करने नहीं देते। बीच में किसी भी प्रकार कोई न कोई विघ्न उपस्थित कर देते हैं। कोई बहुत बड़े पुण्यात्मा स्वर्ग में आ जाते हैं, तो इन्द्र उन्हे अपने सिंहासन का आधा भाग दे देते हैं, उन्हें अपने बराबर बिठाते हैं। इन्द्र तीनों लोकों के समस्त ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं। समस्त यज्ञो में भाग ग्रहण करते हैं। अग्नि उनका मुख है, उसी के द्वारा वे हवि को ग्रहण करते हैं। उनकी सभा में सदा अप्सरायें नृत्य करती रहती हैं, गंधर्व गाते हैं, ऋषि मुनि स्तुति करते हैं।

एक दिन इन्द्र अपनी सभा में शची के सहित सुख पूर्वक विराजमान थे। देवताओं से घिरे ऋषि मुनियों द्वारा सेवित त्रैलोक्याधिपति शचीपति शतक्रतु अपने रत्न जटित सिंहासन पर अपनी प्रिया से हँस-हँसकर बातें कर रहे थे, उसी समय वे क्या देखते हैं, कि भगवान् विष्णु के दूत चले आ रहे हैं, वे सबके सब चतुर्भुज हैं, दिव्य मुकुट धारण किये हुए गले में वनमाला

पहिने दिव्य पीताम्बर पहिने एक पुण्यात्मा पुरुष को बड़े सत्कार से इन्द्रासन की ओर लिये चले आ रहे हैं।

अपनी ही ओर भगवान् विष्णु के दूतों द्वारा सेवित परम तेजस्वी दिव्य पुरुष को आता देखकर, इन्द्र तो उसके तेज को देखकर हक्के बक्के से रह गये। उस नवागत तेजस्वी दिव्य पुरुष के तेज से तिरस्कृत होकर इन्द्र सहसा अपने सिंहासन से लुढ़क कर मंडप में आकर गिर गये। उन्हें अपने शरीर की सुधि बुधि नहीं रही। देवराज इन्द्र के सेवकों ने बड़े ही सत्कार सहित उस नवागत दिव्य पुरुष को इन्द्रासन पर बिठाया। इन्द्र का मुकुट उतार कर इस दिव्य पुरुष के मस्तक पर धारण कराया। उनके सिर के ऊपर छत्र तन गया। सेवक चँवर डुलाने लगे, देवांगनायें उसके स्वागत के लिये दिव्य नृत्य करने लगीं, उसकी स्तुति के गीत गाने लगीं। सभी देवता उसकी आरती उतारने लगे। ऋषि महर्षियों ने वेद मन्त्रों के उच्चारण से उसे भाँति भाँति के आशीर्वाद दिये। गन्धर्वगण अपने अपने वाद्यों को एक स्वर में मिलाकर उसकी प्रशंसा में गायन करने लगे।

अब इन्द्र को चेतना हुई उसने देखा, मेरे सिंहासन पर तो एक दूसरा व्यक्ति इन्द्र बना हुआ बैठा है और इन्द्र पद के सभी भोगों का उपभोग कर रहा है, तब उसने समीप में बैठे हुए अपने गुरु बृहस्पति जी से पूछा—"गुरुदेव! क्या इस व्यक्ति ने सौ अश्वमेध यज्ञ किये हैं?"

बृहस्पति जी ने कहा—'सौ यज्ञों की बात तो पृथक् रही इसने तो एक भी यज्ञ नहीं किया।"

तब इन्द्र ने पूछा—"इसने पिपासित पुरुषों को पानी पिलाने के लिये पानी पोसले (प्याऊ) लगवाकर पथिकों को पानी पिलाने का प्रबन्ध किया होगा? पशु पक्षी पुरुषों तथा अन्य जीवों

के पानी पीने को पोखरे खुदवाये होंगे ? राजपथ में पथिकों को विश्राम करने तथा फल फूलों का उपभोग करने वट, पीपर, पाकर, आम, जामुन आदि के पवित्र वृक्ष लगवाये होंगे ? अकाल पडने पर भूख से व्याकुल नरनारियों को प्रचुर मात्रा में अन्न वितरित कराया होगा ? अथवा पुण्य तीर्थों में अन्नसत्र खुलवाये होंगे ? विद्वान् ब्राह्मणों के निवास के निमित्त सभी आवश्यक सामग्रियों से युक्त भवन बनवाकर दान किये होंगे ? या विद्यार्थियों को अन्न देकर उनके विद्याध्ययन का प्रबन्ध किया होगा ? अथवा देव मंदिर बनवा कर उसमें सेवा पूजा, उत्सवादि के निमित्त विपुल मात्रा में द्रव्य व्यय करके उसके समस्त व्यय का प्रबन्ध किया होगा ? ऐसे ही और भी अनेकों पुण्य कार्यों के करने से प्राणियों को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसने इनमें से कौन कौन से कार्य किये हैं ?"

देवगुरु बृहस्पतिजी ने कहा—"देवराज ! इनमें से इसने कोई भी कार्य नहीं किया।"

इन्द्र ने पूछा—"तब यह मुझे तिरस्कृत करके इन्द्र पद का अधिकारी किस कारण बन गया ?"

बृहस्पतिजी ने कहा—"हे अमरेश ! इस रहस्य को तो मैं भी नहीं जानता। चलो, क्षीरशायी भगवान् विष्णु से इसका कारण पूछें।"

यह सुनकर अपने गुरु को साथ लेकर इन्द्र क्षीरसागर में शेष शैया पर शयन करने वाले भगवान् विष्णु की सेवा में समुपस्थित हुए। वहाँ जाकर उन्होंने कमलाकान्त भगवान् विष्णु के पादपद्मों में प्रेमपूर्वक प्रणाम किया और दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर विनम्र भाव से निवेदन किया—"प्रभो ! मैं अपने इन्द्रासन पर अपनी पत्नी के सहित देवताओं से घिरा बैठा था, कि सहसा

आपके पूजनीय पार्षदों से सेवित एक परम पुण्यात्मा पुरुष आया, उसके तेज से हतप्रभ होकर मैं सिंहासन से नीचे गिर गया और वह मेरे इन्द्रासन पर आसीन हो गया। मैं अपने त्रैलोक्य के साम्राज्य से किस कारण भ्रष्ट हो गया? मैंने तो आपकी प्रसन्नता के निमित्त पर्वकाल में सौ यज्ञों का अनुष्ठान किया था, उसी के परिणाम स्वरूप आपने मुझे सुर दुर्लभ इन्द्र पद प्रदान किया था, मुझे एक मन्वन्तर इस पद पर आसीन रहना चाहिये था, किन्तु मैं देखता हूँ, इस समय इन्द्रासन पर एक अन्य ही व्यक्ति बैठा हुआ है। उसने ऐसा कौन-सा सत्कर्म किया है, जिसके कारण वह मुझे तिरस्कृत करके स्वयं ही इन्द्र बन बैठा?"

इन्द्र की बात सुनकर क्षीरसागर विहारी शेषशायी भगवान् लक्ष्मीपति बोले—"देवराज! जिस व्यक्ति ने तुम्हारे इन्द्रासन पर अधिकार कर रखा है। यद्यपि उसने तीर्थ, व्रत, यज्ञ, दान तथा तपादि कुछ भी पुण्यप्रद कार्य नहीं किये। फिर भी उसने एक ऐसा दिव्य कार्य किया है, जिसके प्रभाव से तुम्हारा इन्द्रासन तो है ही क्या, वह तो परमपद मोक्ष का अधिकारी बन गया है।"

इन्द्र ने पूछा—"वह दिव्य कार्य कौन-सा है दीनानाथ!"

भगवान् ने कहा—"देवेन्द्र! वह व्यक्ति प्रतिदिन श्रद्धाभक्ति तथा नियम से अर्थ सहित श्रीमद्भगवत्गीता के ५ श्लोकों का पाठ किया करता था। इस नियम में जीवन पर्यन्त उसने कभी प्रमाद नहीं किया। उसी के पुण्य प्रताप से उसका ऐसा तेज हो गया है। वह तो मोक्ष प्राप्त कर सकता था, किन्तु उसके मनमें पहिले-से स्वर्गीय सुखों को भोगने की वासना था। इसलिये मरणकाल में मैंने अपने दूतों को आज्ञा दी, कि पहिले स्वर्गीय सुखों का उपभोग कराकर इसे फिर मेरे वैकुण्ठ लोक में ले आओ। सो, तुम इसे कुछ काल स्वर्गीय सुखों का उपभोग करने दो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! भगवान् के श्रीमुख से श्रीमद्-भगवत्गीता के अठारहवें अध्याय का ऐसा माहात्म्य श्रवण करके देवेन्द्र परम विस्मित हुए। वे स्वर्ग मे तो सत्सग अध्ययन कर नहीं सकते थे, क्योंकि स्वर्गलोक तो भोग भूमि हे। कर्मभूमि तो यह पृथ्वी ही हे। अतः इन्द्र ने ब्राह्मण का वेप धारण किया। वे ब्राह्मण बनकर किसी ऐसे विद्वान की खोज मे चले जो उन्हें श्रीमद्भगवत्गीता के अठारहवें अध्याय को पढा सके, उसका अर्थ समभा सके। खोजते खोजते वे दक्षिण दिशा में पुण्यतोया भगवती गोदावरी के किनारे पहुँचे। गोदावरी के किनारे किनारे वे जा रहे थे, कि उन्होने गोदावरी के तट पर परम पवित्र कालिका नाम का एक उत्तम नगर देखा। वहाँ तट पर ही भगवान् कालेश्वर शिव का मन्दिर था, जिन भगवान् ने काल का मद मर्दन किया था। वहाँ पर नर्मदा के तट पर वेदवेदाङ्ग पारगत परमदयालु धर्मात्मा एक विद्वान् ब्राह्मण वेठे हुए थे। वे बडे ही प्रेम से श्रीमद्भगवत गीता के अठारहवें अध्याय का पाठ कर रहे थे।

ब्राह्मण वेपधारी इन्द्र कुछ काल तक चुपचाप वेठे हुए उनके पाठ को सुनते रहे। जब वे विद्वान ब्राह्मण पाठ कर चुके तब इन्द्र ने अत्यन्त श्रद्धाभक्ति के सहित उनके युगल चरणारविन्दों मे साष्टाङ्ग प्रणाम किया।"

ब्राह्मण ने आशीर्वाद देते हुए पूछा—"वत्स ! तुम मुझसे क्या चाहते हो ?"

ब्राह्मण वेपधारी इन्द्र ने कहा—"भगवन् ! में आपके श्रीमुख से श्रीमद्भगवत्गीता का अठारहवाँ अध्याय पढना चाहता हूँ।"

परम प्रसन्नता प्रकट करते हुए विद्वान् ब्राह्मण बोले—"विप्रवर ! तुम बडे भाग्यशाली हो, जब अनेकों जन्म के पुण्य उदय होते हैं, तब मनुष्यों की गीता पाठ मे रुचि होती हे और

उनमे भी कोई भाग्यशाली उसके यथार्थ अर्थ को जानने मे समर्थ होता है। मैं तुम्हें गीता का यथार्थ अर्थ समझाऊँगा।"

यह कहकर वे ब्राह्मण विप्र वेषधारी इन्द्र को गीता के अठारहवें अध्याय का अर्थ समझाने लगे। कुछ दिन इन्द्र ने उन विद्वान् के चरणों मे रहकर अठारहवें अध्याय का विधिवत् अध्ययन किया।

जब वे सम्पूर्ण अठारहवें अध्याय को पढ़ चुके और उसके रहस्य को भली-भाँति समझ गये, तो फिर उन्होने इन्द्रपद ग्रहण की इच्छा नहीं की। उन्होने सोचा—"इन्द्रादि देवताओं का पद तो बहुत ही तुच्छ है यह भी एक प्रकार का रेशम का बन्धन है।" अतः गीता के अठारहवें अध्याय के ज्ञान से उन्होंने श्री भगवान् विष्णु का सायुज्य प्राप्त किया वे परमोत्तम वैकुण्ठ धाम के अधिकारी बन गये।

शिवजी कह रहे हैं—"सो पार्वतीजी! ऐसा है गीता के अठारहवें अध्याय का महान् माहात्म्य। जो नर-नारी इस माहात्म्य को श्रवण भी करते है, वे भी परमपुण्य के अधिकारी होते है सो, पार्वतीजी! आपने जिस प्रकार गीता के प्रत्येक अध्याय का माहात्म्य पूछा और मैंने उसके उत्तर मे श्री लक्ष्मीजी के पूछने पर भगवान् श्रीविष्णु ने जैसे सभी अध्यायों का माहात्म्य बताया, वह सम्पूर्ण कथा तुमसे कही। उसे समझकर तुम भी श्रीमद्भगवत् गीता के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन में अपने चित्त को लगाओ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने श्रीशिवोक्त गीता के अठारहो अध्यायो का माहात्म्य बताया। अब आगे आप और क्या पूछना चाहते हैं?"

छप्पय

इन्द्रासनपै इन्द्र गिराजें नर इक आयौ।
हतप्रभ सुरपति भये इन्द्रपद ताहि बिठायौ॥
विष्णु निकट पुनि जाइ पुन्य पूछ्यो तिहि सुरपति।
गीता पाठक रह्यो दयो उत्तर जब जगपति॥
सुनत इन्द्र धरि देह द्विज, अट्ठारह अध्याय सुनि।
स्वरग इन्द्रपद तुच्छ गनि, पायो पद बैकुण्ठ पुनि॥